शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

दिसम्बर : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, मगसिर वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ८

मोक्ष की साधना करते-करते....

श्री महामुनिवर स्वयं मोक्ष की साधना कर रहे हैं; मोक्ष की साधना करते-करते उसके मार्ग की प्रसिद्धि करते हुए मुनिराज कहते हैं कि—नियम से जो मोक्ष का मार्ग, उसका इस ''नियमसार'' में प्रतिपादन है और निजात्मा की भावना के हेतु से इसकी रचना हो रही है। हे भव्य श्रोता! हमने इस नियमसार में जिस निजात्म भावना का बारम्बार मंथन किया है, वैसी निजात्म भावना के बारम्बार मंथन से तुझे भी नियम से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होगी। नियमरूप जो मोक्षमार्ग है, उसकी साधना करते-करते हमारा यह कथन है; उसमें बतलाई हुई भावना के मंथन से तुझे भी हमारे जैसे मोक्षमार्ग की निश्चित प्राप्ति होगी।—इसप्रकार वक्ता एवं श्रोता की संधि का इकरार है।

—प्रवचन से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१६४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्म जीवन

चैतन्यभाव ही आत्मा के जीवन का कारण है।

हे जीव! अपनी जीवत्वशक्ति से ही तू अनादि-अनंत जी रहा है। ज्ञाता स्वभावोन्मुख ज्ञानपर्याय द्वारा ही आत्मा का जीवन है। जो जीव ऐसी जीवनशक्ति को जाने, उसका आत्म-जीवन भिन्न प्रकार का हो जाता है।—अनंत काल में जो कभी नहीं हुआ-ऐसा अपूर्व उसका जीवन हो जाता है।

[—प्रथम शक्ति के प्रवचन से]

स्वालंबन का उपदेश

हे भव्य!

तेरा आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है; तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र किसी दूसरे के आधार से नहीं हैं; इसलिये परसन्मुख बुद्धि छोड़कर स्वसन्मुख हो।

देह या देह की क्रियाओं का घात होने पर भी, तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात नहीं हो जाता; इसलिये तू ऐसा समझ कि देह या देह की क्रिया के आधार से तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं। उसी प्रकार राग का घात होने पर तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात नहीं होता; इसलिये तू ऐसा समझ कि तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र उस राग के आश्रित नहीं हैं। तेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तेरे शुद्ध आत्मा के ही आश्रित हैं। अपने स्वावलम्बन से ही तेरे गुण स्थित रहते हैं, इसलिये अन्तरोन्मुख होकर स्वालम्बन कर और परालम्बन छोड़—ऐसा संतों का उपदेश है।

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

दिसम्बर : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, मगसिर वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ८

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[३९]

भावशक्ति

आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के सामर्थ्यवाला है। अपने सुखादि भावों के लिए पर को कारक बनाये—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है... जिसे आनन्दमय सच्चा जीवन जीना हो, उसे अंतर्मुख होकर आत्मा में ढूँढ़ना है... अंतर्दृष्टि से जहाँ चैतन्यस्वभाव का सेवन किया, वहाँ चैतन्य भगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि—माँग! माँग! जो चाहिये हो वह माँग ले! इस चैतन्य राजा के पास सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के समस्त पद प्रदान करने की शक्ति है; इसलिये इस चैतन्य राजा की सेवा करके उसे ही प्रसन्न कर, दूसरों से न माँग; बाहर न देख; अंतर-अवलोकन कर!

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा ज्ञान लक्षण से प्रसिद्ध होता है, तथापि वह एकांत ज्ञानस्वरूप ही नहीं है, ज्ञान के साथ अन्य अनंत शक्तियाँ स्थित हैं, इसलिये भगवान आत्मा अनेकांतस्वरूप है। अनेकांतमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन अनेक प्रकार से अलौकिक रीति से आ गया है। अभी तक ३८ शक्तियों का वर्णन हुआ, अब ९ शक्तियाँ शेष हैं। उनमें से ३९वीं 'भावशक्ति' में विकारी छह कारकों का अभाव बतलाते हैं; फिर

४० वीं 'क्रियाशक्ति' में स्वभावरूप छह कारक बतलायेंगे और उसके बाद कर्म-कर्ता-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण तथा सम्बन्ध इन सातों शक्तियों का आत्मा के स्वभावरूप से वर्णन करके आचार्य भगवान ४७ शक्तियों का कथन समाप्त करेंगे।

कैसी है आत्मा की भावशक्ति? कर्ता-कर्म आदि कारकों के अनुसार जो क्रिया, उससे रहित भवनमात्रमयी (-होने मात्रमय) भावशक्ति है। पहले तेंतीसवें बोल में भावशक्ति का कथन किया था, वहाँ तो अवस्था की विद्यमानता बतलाई थी; और यह भावशक्ति भिन्न है। इस भावशक्ति में कारकों से निरपेक्षपना बतलाते हैं।

दु:ख दूर करके सुखी होने के लिये सुख कहाँ ढूँढ़ें-उसकी यह बात है। भाई, तेरा सुख तुझमें है और तेरा आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के सामर्थ्यवाला है। पर को कारक बनाकर उससे सुख लेना चाहेगा तो कभी सुख प्राप्त नहीं होगा। अपने सुखादि भावों के लिये पर को कारक बनाये—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्ता-कर्म आदि भिन्न-भिन्न कारकों के अनुसार जो क्रिया हो, उसरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु उससे रहित परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय अपने से भिन्न अन्य किसी कारक के आधार से स्थित रहे—ऐसा आत्मा का पराधीन स्वभाव नहीं है, किंतु अन्य कारकों से रहित स्वयं अपने भावरूप परिणमित हो—ऐसा उसका स्वभाव है। यदि ऐसे स्वभाव में ढूँढ़े, तभी सुख प्राप्त हो सकता है। अन्य कारणों में ढूँढ़े तो सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

हीरों का हार अपने गले में पहिना हो, उसे अपने गले में देखे तो मिल सकता है, किंतु बावला बनकर अन्यत्र बाह्य में ढूँढ़े तो नहीं मिल सकता और उलझन दूर नहीं हो सकती। उसीप्रकार सुख अपने में जहाँ भरा है, वहाँ ढूँढ़े तो मिलता है। आत्मा में सुखस्वभाव भरा है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढे तो मिल सकता है; किंतु बाह्यवृत्ति से बावले की भाँति बाह्य में ढूँढ़े तो सुख मिल नहीं सकता और दु:ख दूर नहीं हो सकता। सुख और सुख के कारक आत्मा में ही हैं, बाह्य में नहीं हैं; इसलिये जिसे वास्तविक सुख एवं आनन्दमय जीवन जीना हो, उसे अंतर्मुख होकर आत्मा में ढूँढ़ना है। पर में सुख नहीं है, राग में सुख नहीं है; इसलिये पर में या राग में ढूँढ़ने से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा में भरपूर सुख है; उसमें अंतर्मुख होकर ढूँढ़े तो सुख का अनुभव हो। सुख, प्रभुता, सर्वज्ञता आदि समस्त शक्तियाँ आत्मा में भरी हैं, उसमें ढूँढ़े तो मिल सकती है।

तो फिर क्या करें? कहते हैं कि संतों के उपदेशानुसार आत्मा की शक्तियों को पहिचान कर

प्रतीति करना, अंतरोन्मुख होकर उनमें एकाग्र होना। उनमें एकाग्रता से ज्ञान-आनन्द-प्रभुता प्रगट होती है... आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

जहाँ अंतर्दृष्टिपूर्वक चैतन्यस्वभाव का सेवन किया, वहाँ चैतन्य भगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि माँग.. माँग!! तुझे क्या चाहिये? जो चाहिये हो माँग ले! केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द देने की शक्ति मुझमें है। जो कुछ चाहिये हो, वह आत्मा की शक्ति में भरा ही है; इसलिये आत्मा की शक्ति का विश्वास करके जो कुछ चाहिये हो, वह उससे माँग...आत्मा में एकाग्र हो... बाह्य में न ढूँढ़... सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के समस्त पद प्रदान करने की शक्ति इस चैतन्यराजा में है; इसलिये इस चैतन्यराजा की सेवा करके उसे प्रसन्न कर... दूसरों के पास भीख न माँग... बाह्य में न देख; अंतर-अवलोकन कर।

आत्मा कहाँ है? जहाँ आत्मा है, वहीं ढूँढ़ तो मिलेगा। आत्मा अपने से बाहर कहीं नहीं है, इसलिये बाह्य में ढूँढ़ने से आत्मा के गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मा के गुण आत्मा से बाहर नहीं हैं, आत्मा में ही हैं। भाई! तेरी प्रभुता तुझमें है... बाह्य में न ढूँढ़... अपनी प्रभुता के लिये बाह्य सामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता न कर, क्योंकि बाह्य सामग्री से तुझे तेरी प्रभुता प्राप्त नहीं हो सकती। बाह्य सामग्री से निरपेक्षरूप स्वयं अकेला छह कारकरूप (कर्ता-कर्म-करण आदि) होकर केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित हो जाये—ऐसा स्वयंभू भगवान यह आत्मा है। आत्म को ही 'प्रभु' कहा है, आत्मा को ही 'भगवान' कहा है। अहो! अपनी प्रभुता छोड़कर पर को कौन ढूँढ़े? ऐसा स्पष्ट स्वभाव होने पर भी पामर जीव अपनी प्रभुता को पर में ढूँढ़ते हैं। उन्हें आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीवों! तुम्हारी प्रभुता तुममें ही भरी है... अन्तरअवलोकन करके उसे ढूँढ़ो! अंतर्मुख होकर अपनी प्रभुता को धारण करो और पामर बुद्धि छोड़ो!

अहो! अपनी प्रभुता को भूले हुए पामर जीव निमित्त और राग के पास जाकर अपनी प्रभुता की भीख माँगते हैं और भिखारीरूप में चौरासी लाख योनि के अवतार में परिभ्रमण करते हैं। आचार्यदेव उन्हें उनकी प्रभुता का दान देते हैं,—उनकी प्रभुता बतलाते हैं। अरे जीव! तेरे स्वभाव में प्रभुता का कल्पवृक्ष है; यह आत्मा ही चैतन्य कल्पवृक्ष है, उसके पास जाकर प्रभुता की याचना कर तो तुझे अवश्य अपनी प्रभुता मिलेगी। प्रभुता से भरे हुए अपने चैतन्यचिन्तामणि का चिन्तवन कर तो उसके चितवन से सम्यग्दर्शनादि प्रभुता प्रगट हो। प्रभुता का निधान अपने में भरा है, उसे बाह्य में ढूँढ़े तो कहाँ से मिलेगा? अहो! तुम्हें तुम्हारी प्रभुता के निधान बतला रहे हैं... उन्हें एक

बार तो देखो... आत्मा की प्रभुता को देखने का कुतूहल-रुचि-उमंग करो और तुम्हें अपनी प्रभुता प्राप्त न हो-ऐसा नहीं हो सकता। जो अपने अन्तरस्वभाव में ढूँढ़े, उसे प्रभुता अवश्य प्राप्त होगी ही।

आत्मा ज्ञानादि अनंत गुणों की प्रभुतावाला है; यहाँ विविध शक्तियों द्वारा उसकी प्रभुता बतलाते हैं। यदि इन शक्तियों द्वारा आत्मा यथार्थ स्वरूप समझ ले तो पर से निराले परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति हो जाये। आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का जो वर्णन किया है, उस प्रत्येक शक्ति के वर्णन में विविधता है। आत्मा की अनंत शक्तियाँ परस्पर विलक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षणवाली हैं; इसलिये समस्त शक्तियों में एक की एक बात नहीं किंतु नई-नई बात है। आत्मा की विशालता की ओर जिसका लक्ष न हो, ज्ञान का रस न हो, उसे नये-नये पक्षों से समझने में अरुचि उत्पन्न होती है, किंतु यदि अनेक पक्षों से समझे तो ज्ञान की निर्मलता और दृढ़ता बढ़ती जाये और अंतर में चैतन्य के प्रति रस तथा उल्लास प्रगट हो; तथा स्वयं को अनुभव हो कि मेरी पर्याय में नये-नये भाव प्रगट होते जा रहे हैं और सूक्ष्मता बढ़ रही है। अंतर में ज्यों-ज्यों गहराई तक उतरे, त्यों त्यों सूक्ष्म रहस्य समझ में आयेंगे। इसलिये अंतर में इस बात की अपूर्वता लाकर समझने के लिये अपूर्व प्रयत्न करने योग्य है।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों में से इस समय ३९वीं भावशक्ति का वर्णन हो रहा है। कर्ता-कर्मादि कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित शुद्ध भावरूप हो—ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। राग-द्वेष का या शुभभाव का (राग का) अनुसरण करके आत्मा शुद्ध भावरूप हो—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का जो शुद्धभाव हुआ, उसका राग कर्ता नहीं है, राग कर्म नहीं है, राग करण नहीं है, राग सम्प्रदान नहीं है, राग अपादान नहीं है या राग अधिकरण नहीं है।—इसप्रकार कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से वह रहित है। तथा आत्मा स्वयं भी स्वभाव से राग का कर्ता नहीं है, राग का कर्म नहीं है, करण नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, तथा अधिकरण भी नहीं है। उसीप्रकार राग का और स्वभाव का स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है। राग करे और उसके फल को भोगे—ऐसा आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान-आनन्दमय है; आनन्द का उपभोग करे—ऐसा उसका स्वभाव है; पर के या विकार के कारकों का अनुसरण करे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

'शुभराग या शरीरादि की क्रिया, वे किसी प्रकार के आत्मा के धर्म के कारण है ?—किसी प्रकार उनका आधार है ?'—तो कहते हैं कि नहीं; उन रागादि की क्रिया के अनुसार न हो ऐसा

आत्मा का स्वभाव है। पर्याय में एक समयपर्यंत विकार की योग्यता हो, उसे आत्मा की त्रैकालिकशक्ति नहीं कही जाती; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा में विकाररूप होने की योग्यता भी नहीं है—ऐसा समझाना है। आत्मा की किसी शक्ति के स्वभाव में रागादि का कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान अथवा अधिकरणपना नहीं है; और उस त्रिकाली स्वभाव का अनुसरण करके जो निर्मल भाव हुआ, वह भाव भी रागादि कारकों का अनुसरण नहीं करता।—इसप्रकार कारकों के अनुसार होनेवाली रागादि क्रिया से रहित परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्न : राग-द्वेष और अज्ञानरूप भी आत्मा परिणमित होता तो है न ?

उत्तर : एक समय पर्यंत की अवस्था के विकार को अज्ञानी ही अपने कार्यरूप से स्वीकार करता है, और उसका फल संसार है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है तो उसे आत्मा कैसे कहा जायेगा ? आत्मा की कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि पर के साथ कारकों का सम्बन्ध रखे! पर का अनुसरण करने से विकार होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे आत्मा नहीं कहते। एक-एक समय मिलकर अनंतकाल विकारी परिणमन में व्यतीत हुआ, तथापि दो समय का विकार आत्मा में एकत्रित नहीं हुआ, तथा एक समयपर्यंत का जो विकार है, वह भी आत्मा के स्वभावरूप नहीं हो गया है; इसलिये स्वभावदृष्टि में राग को आत्मा के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है; वह करण नहीं है—साधन नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, आधार नहीं है, और उनके साथ आत्मा को स्वस्वामित्वपने का सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न : तो फिर राग-द्वेष किसने किये ?

उत्तर : आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है उसने! एक समयपर्यंत की विपरीत मान्यता से आत्मा को राग-द्वेषरूप ही मानकर उन रागादि को अपना माना है। सम्यक्त्वी तो एक शुद्ध ज्ञायक-स्वभाव को ही अपना मानता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात परमार्थतः राग-द्वेष का कर्तृत्व माना ही नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वी अपने शुद्धात्मस्वरूप के साथ रागादि को एकमेक नहीं करता।

'जैनदर्शन में तो बस! कर्म की ही बात है और कर्म से ही सब कुछ होता है—ऐसा भगवान ने कहा है' : इसप्रकार अज्ञानी मानते हैं, किंतु उन्हें जैनदर्शन की खबर नहीं है। जैनदर्शन में तो अनंत शक्ति सम्पन्न अनेकान्तस्वरूप शुद्ध आत्मा की ही मुख्यता है; और विकार के समय उसे निमित्तरूप से कर्म होते हैं—ऐसा भगवान ने बतलाया है। कर्मरूप होने की शक्ति पुद्गल की है।

आत्मा, जड़ कर्मों का बंध करे या उन्हें दूर करे अथवा जड़ कर्म आत्मा को हैरान करें—ऐसा कहने का भगवान का आशय नहीं है। आत्मा, पर की अवस्था नहीं करता और परपदार्थ आत्मा की अवस्था नहीं करते,—अपने-अपने छह कारकों से ही प्रत्येक द्रव्य की अवस्था होती है। पर्याय में विकार और उसके निमित्तरूप कर्म हैं, वे जानने योग्य हैं, किंतु उतना ही आत्मा को मानकर उसके आश्रय में रुके तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता, इसलिये व्यवहारनय ज्ञान में जानने योग्य है किंतु वह आदरणीय नहीं है—ऐसा जिनशासन में आचार्यदेव ने ढिंढोरा पीटकर कहा है।

जीव और पुद्गल दोनों एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमन करते हैं। पंचास्तिकाय को ६२वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि निश्चय से अभिन्न कारक होने से जीव को तथा कर्म को—दोनों को स्वयं अपने-अपने स्वरूप का ही कर्तृत्व है। '**...स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते...**' पुद्गलद्रव्य स्वयं ही छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना ही कर्मरूप से परिणमित होता है। तथा जीव भी अपने औदयिकादि भावोंरूप से '**...स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकांतरमपेक्षते...**' स्वयमेव छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा बिना ही परिणमित होता है। इस गाथा का भावार्थ बतलाते हुए श्री जयसेनाचार्यदेव लिखते हैं कि—'**अयमत्र भावार्थः। यथैवाशुद्ध-षट्कारकीरूपेण परिणममानः सन्नशुद्धमात्मानं करोति तथैव शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपेणाभेदषट्कारकी स्वभावेन परिणममानः शुद्धमात्मानं करोतीति**' जिस प्रकार अशुद्ध छह कारकोंरूप से परिणमित होता हुआ अशुद्ध आत्मा को करता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप से अभेद छह कारक स्वभाव से परिणमित होता हुआ शुद्ध आत्मा को करता है। इसप्रकार अशुद्धता में तथा शुद्धता में अन्य कारकों से निरपेक्षपना है।

दूसरा निमित्त हो भले, किंतु उस समय उससे निरपेक्षरूप से ही वस्तु परिणमित होती है 'अपने को योग्य जीव के परिणाम प्राप्त करके, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म अन्य कर्ता से निरपेक्षरूप ही उत्पन्न होते हैं... **कर्त्रंतरनिरपेक्षाण्येवोत्पद्यंते**'—ऐसा पंचास्तिकाय की ६६ वीं गाथा में कहा है। (विशेष के लिये देखिये गाथा ६२ तथा ६६)।

अन्य कारकों से निरपेक्षपना बतलाकर आचार्यदेव ने अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। व्यवहार से अन्य जितने कारक कहे जाते हों, उन सबसे निरपेक्षरूप ही जीव-पुद्गल का परिणमन है। ऐसा निरपेक्षपना जान ले तो पराश्रय छूटकर स्वाश्रय से शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे।

और प्रवचनसार की १२६वीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि—संसारदशा में या साधकदशा में भी आत्मा अकेला ही स्वयं कर्ता-कर्म-करण और कर्मफल है; अन्य कोई उसका सम्बन्धी नहीं है तथा १६वीं गाथा में कहा है कि शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है, इसलिये 'स्वयंभू' है। निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है। (इन दोनों गाथाओं के विस्तृत अवतरण इसी लेख में आगे आयेंगे।)

स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होकर फिर ऐसा जानता है कि पूर्वकाल में रागादिरूप भी मैं ही अकेला परिणमित होता था; मेरा वह परिणमन किसी पर के कारण नहीं था; और अब स्वभावरूप परिणमित होने से ऐसा भी भान हुआ कि पूर्वकाल में जो रागादिरूप परिणमन था, वह मेरा स्वभाव नहीं था—इसप्रकार ज्ञानी द्रव्य-पर्याय दोनों को यथार्थरूप से जानता है।

यहाँ आचार्यदेव द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कहते हैं कि—आत्मा में विकार के छह कारकानुसार क्रिया होने का अभाव है; आत्मा भेदरूप छह कारकों की क्रिया से रहित है। और शुद्ध छह कारकानुसार होनेरूप क्रियाशक्ति है-यह बात अब अगली शक्ति में कहेंगे।

राग को कर्ता बनाकर आत्मा उसके अनुसार धर्मरूपी कार्य करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।

राग को कर्म बनाकर आत्मा उसका कर्ता हो—ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार राग को साधन बनाकर आत्मा उससे धर्म को साधे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

पहले पर्याय में रागादि का कर्ता-कर्मपना था, किंतु जहाँ पर्याय अंतरोन्मुख हुई, वहाँ वह कर्ता-कर्मपना नहीं रहा। अज्ञानभाव के समय रागादि कारकों को अनुसरण करता था, किंतु जहाँ अन्तरोन्मुख होकर अभेद स्वभाव का अनुसरण किया, वहाँ भेदरूप कारकों का अनुसरण करने की क्रिया नहीं रही। इसप्रकार अपने स्वभाव का अनुसरण करे और भेदरूप कारकों का अनुसरण न करे —ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। जो शुद्ध भाव हुआ, वह अपने स्वभाव का ही (अभेदरूप छह कारकों का हो) अनुसरण करता है और भेदरूप कारकों का—राग का या पर का अनुसरण नहीं करता।

निमित्त के अनुसार होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे विलक्षण निमित्त आयें, वैसा

ही विलक्षण परिणमन होता है—ऐसा माननेवाला निमित्त का ही अनुसरण करता है किंतु आत्मा का अनुसरण नहीं करता, इसलिये जो निमित्त का अनुसरण नहीं करता—ऐसे आत्मस्वभाव की—आत्मा की (भावशक्ति की) उसे खबर नहीं है। किंतु अपने स्वभाव से भिन्न अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना—निरपेक्षरूप से स्वयं अपने निर्मल भावरूप से परिणमित होता है—ऐसी आत्मा की भावशक्ति है।

प्रवचनसार की १६वीं गाथा में सर्वज्ञ हुए आत्मा का स्वयंभूरूप से वर्णन करते हुए आचार्य भगवान ने अद्भुत बात कही है; वहाँ स्पष्ट कहते हैं कि—

''शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्म नष्ट हो जाने के कारण जिसने शुद्ध अनंत शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है ऐसा आत्मा—

(१) शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तापने का अधिकार ग्रहण किया है ऐसा,

(२) शुद्ध अनंत शक्तिवाले ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से (-स्वयं ही प्राप्त होता है इसलिये) कर्मपने का अनुभव करता हुआ,

(३) शुद्ध अनंत शक्तिवाले ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही साधकतम (-उत्कृष्ट साधन) होने से करणपने को धरता हुआ,

(४) शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होता है, इसलिये (अर्थात् कर्म स्वयं को दिया जाता है इसलिये) सम्प्रदानपने को धारण करता हुआ,

(५) शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्वकाल में प्रवर्तित विकलज्ञानस्वभाव का नाश हो जाने पर भी सहज-ज्ञान-स्वभाव द्वारा स्वयं ही ध्रुवत्व का अवलम्बन करता है, इसलिये अपादानपने को धारण करता हुआ, और

(६) शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होनेवाले स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणपने को आत्मसात करता हुआ;

—इसप्रकार स्वयमेव छह कारक रूप होता है, इसलिये 'स्वयंभू' कहलाता है।

इससे ऐसा कहा कि—निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (-बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।''

पर से निरपेक्ष रहकर ज्ञान-आनन्दरूप परिणमित होने के अपने स्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता और बाह्य कारणों को ही ढूँढ़ता है; इसलिये वह व्यर्थ ही दु:खी-व्याकुल होता है, कहीं स्थिर नहीं होता। स्थिरता तो अंतर में करना है, किंतु उसे तो वह जानता नहीं है। आतमराम को जाने बिना कहाँ आराम करेगा!

यहाँ कहते हैं कि बाह्य कारण तो दूर रहो... किंतु विकार के कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक-जो आत्मा की पर्याय में होते हैं—उनके अनुसार परिणमित होने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर के कारण विकार होता है या पर के कारण गुण होता है—ऐसा जो माने, उसने तो बाह्य कारकों को आत्मा में माना है, और वह तो मिथ्यात्वी है; तथा भेदरूप कारकों से विकाररूप परिणमित होता है—ऐसा ही आत्मा की माने और शुद्ध आत्मा को न जाने तो उसने भी आत्मा के वास्तविकस्वभाव को नहीं जाना है, वह भी मिथ्यात्वी है। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भाव हुए, वे द्रव्य के साथ अभेद हुए, वहाँ कर्ता और कर्म तथा आधार आदि समस्त कारक अभेद हुए; कर्ता अलग, कर्म अलग और साधन कोई दूसरा—ऐसा भेद वहाँ नहीं रहा। ज्ञाता स्वयं ही छह कारकरूप होकर शुद्धभावरूप परिणमित हुआ हैं, वहाँ भेदरूप कारकों की क्रिया अस्त हो गई है।

देखो, इसमें निमित्त आदि कारक तो निकाल दिये, क्योंकि उनका तो आत्मा में अभाव है-१,। विकारी कारक भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इसलिये द्रव्य दृष्टि में उन्हें भी निकाल -२। और निर्मल छह कारकों के भेद की दृष्टि भी निकाल दी-३। इसप्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से भेदरूप कारकों की क्रियारहित शुद्धभावरूप से आत्मा परिणमित होता है। आत्मा निर्मल छह कारकरूप से अभेद परिणमित होता है; छह कारकों के भेद पर लक्ष रहे तो राग होता है और अभेद आत्मा के आश्रय से शुद्धभावरूप से आत्मा का परिणमन हो जाता है, उसमें भेदरूप कारकों का अवलम्बन नहीं है, इसलिये अभेद का ही अवलम्बन है—ऐसा इस भावशक्ति में बतलाया।

(१) शुद्धभावरूप सम्यक्त्वादि कार्य हुआ, वह आत्मा का कर्म;

(२) आत्मा स्वतंत्ररूप से उसरूप परिणमित होता है, इसलिये उसका कर्ता;

(३) आत्मा द्वारा ही वह भाव किया गया है, इसलिये आत्मा साधकतम करण;

(४) आत्मा में से ही वह भाव प्रगट हुआ है, इसलिये आत्मा सम्प्रदान;

(५) वह भाव प्रगट होकर आत्मा में ही रहा है, इसलिये आत्मा अपादान है;

(६) वह भाव आत्मा के ही आधार से हुआ है, इसलिये आत्मा ही अधिकरण है।

—इसप्रकार शुद्धभाव में अपने ही छह कारक अभेदरूप हैं; परन्तु भेदरूप कारकों का आत्मा अनुसरण नहीं करता; वह इसप्रकार—

(१) सम्यक्त्वादि शुद्धभावरूप कार्य हुआ, वह राग का कार्य नहीं है, क्योंकि राग भाव उस रूप परिणमित नहीं हुआ है।

(२) सम्यक्त्वादि शुद्धभाव का कर्ता राग नहीं है।

(३) उस शुद्धभाव का साधन राग नहीं है, इसलिये राग उसका करण नहीं है;

(४) वह शुद्धभाव प्रगट होकर राग में नहीं रहा, इसलिये राग उसका सम्प्रदान नहीं है;

(५) वह शुद्धभाव राग में से नहीं आया, इसलिये राग उसका अपादान नहीं है।

(६) वह शुद्धभाव राग के आधार से नहीं है, इसलिये राग उसका अधिकरण नहीं है।

—इसप्रकार रागादि कारकों का अनुसरण किये बिना ही स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है, उसे यह भावशक्ति बतलाती है। भाव अर्थात् शुद्धभावरूप से भावना—परिणमित होना; उस शुद्धभावरूप से स्वयं भवने की (स्वयं परिणमित होने की) आत्मा की शक्ति है; उसमें आत्मा से भिन्न अन्य किन्हीं कारकों का अवलम्बन नहीं है।

अहो! निरालम्बी चैतन्य की अपूर्व बात है! किंतु स्वयं अंतर्मुख होकर अपने चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन कभी नहीं किया है। एक बार आत्मा की अचिन्त्यशक्ति को पहिचाने तो बाह्य में कहीं मोह न रहे... और अंतर्मुख होने पर अल्पकाल में मुक्ति हो जाये। ऐसी आत्मस्वभाव समझने के लिये अंतर से प्रेम आना चाहिये; अंतर में अत्यन्त रुचिपूर्वक-अत्यन्त जिज्ञासापूर्वक-अत्यन्त पात्रतापूर्वक-अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अपनी मानकर यह बात समझना चाहिये। जिसने एक बार भी भावभासनपूर्वक अपने आत्मा में इस बात के संस्कार जमा लिये, उसे वे संस्कार फलित होकर सिद्धदशा हो जायेगी—इसमें कोई संदेह नहीं है। जो यह बात समझ ले, उसके आत्मा में से संसार की ओर के (-मिथ्यात्वादि के) छहों कारकों का परिणमन छूटकर मोक्ष की ओर के कारकों का परिणमन (स्वभाव के आश्रय से) होने लगे।

'स्वतंत्र परिणमित हो, वह कर्ता।' रागभाव कहीं सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता, किंतु आत्मा स्वयं ही स्वतंत्ररूप से सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है; इसलिये आत्मा ही उन सम्यग्दर्शनादि का कर्ता है, राग उनका कर्ता नहीं है।

'कर्ता का इष्ट सो कर्म।' सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप परिणमित होना ही आत्मा का इष्ट है,

और आत्मा उसका कर्ता है। इसके अतिरिक्त निमित्त को या राग को इष्ट मानकर उसी के अनुसार जो मिथ्यात्वभावरूप से परिणमित होता है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते, वह तो आस्रवतत्त्व में जाता है।

उसीप्रकार कर्ता का साधकतम साधन, वह करण है। आत्मा को सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्यरूप परिणमित होने में पर या रागादि सच्चा साधन नहीं है किंतु अपना स्वभाव ही साधकतम होने से उसका साधन है, इसलिये आत्मा ही करण है। निमित्तों को या राग को साधन मानकर जो उसके आश्रय से परिणमित होता है, उसके सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्य नहीं होता किंतु मिथ्यात्वादि होता है।

उसीप्रकार कर्ता अपना कार्य जिसे दे, वह सम्प्रदान; आत्मा अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य राग को या निमित्त को नहीं देता, इसलिये राग या निमित्त उसके सम्प्रदान नहीं है; आत्मा अपने स्वभाव में ही अभेदरूप से उसे रखता है; इसलिये आत्मा ही उसका सम्प्रदान है।

जिसमें से कार्य लिया जाये अथवा कार्य में जो ध्रुवरूप स्थित रहे, वह अपादान है। संयोग और राग तो छूट जाता है; इसलिये वह अपादान नहीं है; सम्यग्दर्शनादि कार्य में आत्मा ही अखण्डरूप से स्थित रहनेवाला है और उसी में वह कार्य लिया जाता है, इसलिये वही अपादान है।

उसीप्रकार राग या निमित्त उस सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का आधार भी नहीं है; राग के या निमित्त के आधार से वह कार्य नहीं होता, इसलिये राग उसका अधिकरण नहीं है, किंतु स्वभाव ही उसका आधार होने से अधिकरण है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्धभावरूप परिणमन में पर के कारकानुसार होनेवाली क्रिया से रहित है; पर के कारकानुसार होनेवाली जो विकारी क्रिया उससे रहित शुद्धभावरूप -भवनमात्र शक्तिवाला आत्मा है, उसमें अन्तरोन्मुख होने से ही कल्याण है।

आत्मा का स्वभाव क्या है, उसकी यह बात चल रही है। पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूप विकार करता है, वह भी जीव स्वयं ही उलटे पुरुषार्थ से करता है किंतु वह जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। विकार को हितरूप मानने से जीव संसार में दुःख भोग रहा है। विकाररहित अपना वास्तविक स्वरूप क्या है—उसे पहिचाने तो सच्चे अनुभव द्वारा दुःख दूर होकर मुक्ति हो, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! भिन्न कारकों के अनुसार विकाररूप से या हीनतारूप से परिणमित होने का तेरा स्वभाव नहीं है, किंतु उससे रहित शुद्धतारूप तथा पूर्णतारूप परिणमित

होने का तेरा स्वभाव है। पर से निरपेक्षता होने पर अपने स्वभाव से पूर्णता ही है। बस! पूर्णता... पूर्णता और पूर्णता ही है—ऐसे स्वभाव का स्वीकार, वह सम्यग्दर्शन है। और ऐसे स्वभाव से च्युत होकर पर को कारक मानकर अज्ञानदशा में विकाररूप भी स्वयं अपने कारकों से परिणमित होता है, कोई दूसरा उसे परिणमित नहीं करता।

प्रवचनसार की १८६ वीं गाथा में कहते हैं कि—'यह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण-त्यागरहित होने पर भी अभी संसारावस्था में, परद्रव्य के परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए (पराश्रय करने में निमित्त बनाते हुए) ऐसे केवल स्वपरिणाममात्र का—वह स्वपरिणाम द्रव्यत्वभूत होने से उसका—कर्तृत्व अनुभवता हुआ, अपने उसी स्वपरिणाम को निमित्तमात्र करके कर्म परिणाम को प्राप्त करती हुई ऐसी पुद्गल रज द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण हाता है और कदाचित् छूटता है। **'स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स'**—ऐसा मूल सूत्रकार भगवान ने ही कहा है। उसमें से यह स्पष्ट अर्थ टीकाकार आचार्यदेव ने खोला है। विकारी परिणाम भी आत्मा के अस्तित्व में होते हैं, स्वकृत होने से आत्मा के आश्रय से, अपने कारण से होते हैं, इसलिये उन्हें 'दव्वजादस्स' कहा है, और उन स्वपरिणामों का कर्ता आत्मा ही होता है—ऐसा बतलाया है। किंतु जहाँ शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को दृष्टि में लेकर उसके सन्मुख हुआ, वहाँ वह अशुद्ध परिणमन नहीं रहता; और गौणरूप से अल्परागादि रहे, उसका कर्तृत्व भी शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में नहीं रहता। साधकदशा में विकारी कारकों की क्रियारहित निर्मलभावरूप से स्वयं ही परिणमित होता है। इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है।

इस सम्बन्ध में प्रवचनसार गाथा १२६ में कहते हैं कि—'जो पुरुष इसप्रकार, कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है'—ऐसा निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप से परिणमित नहीं होता, वही पुरुष, परद्रव्य के साथ सम्पर्क जिसका रुक गया है और द्रव्य के भीतर पर्यायें जिसके प्रलीन हुई हैं—ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है, किंतु अन्य कोई ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता।

पुनश्च, यह बात विशेष स्पष्टरूप से समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—'जब मैं संसारी था, तब भी (-अज्ञानदशा में भी) मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं था; उस समय भी मैं अकेला था, कारण कि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनरूप से करता था;) मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा

साधकतम (उत्कृष्ट साधन) था; मैं अकेला ही कर्म (-कार्य) था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था; और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला 'दुःख' नाम का कर्मफल था—कि जो (फल) उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता था।'

'...इस समय भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) सचमुच मेरा कोई भी नहीं है। इस समय भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ; कारण कि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र हूँ (अर्थात् स्वाधीनरूप से करता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य हूँ, और मैं अकेला ही अनाकुलता लक्षणवाला 'सुख' नाम का कर्मफल हूँ—कि जो (फल) सुविशुद्ध चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता है।'

'इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है—ऐसा भानेवाला यह पुरुष परमाणु की भाँति एकत्व भावना में उन्मुख होने से (अर्थात् एकत्व के भाने में तत्पर—लगा हुआ—होने से), उसे परद्रव्यरूप परिणति बिलकुल नहीं होती; और परमाणु की भाँति (अर्थात् जिसप्रकार एकत्वभावरूप परिणमित होनेवाला परमाणु, पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार), एकत्व को भानेवाला पुरुष, पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिये परद्रव्य के साथ असंपृक्तता के कारण वह सुविशुद्ध होता है। और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण (-खण्डित) नहीं होता; और इसलिये पर्यायों द्वारा संकीर्ण न होने के कारण सुविशुद्ध होता है।'

विकारदशा के समय भी उसके छहों कारक यद्यपि आत्मा में हैं, किंतु उन अशुद्ध छह कारकों के अनुसार परिणमित होने का आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नहीं है—ऐसा यहाँ बतलाना है। आत्मा में एक ऐसा अनादि-अनंत भाव है कि जो पर का या विकार का कर्ता नहीं होता। आत्मा की अनंत शक्तियों में विकार की कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान या अधिकरण हो—ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है, वह तो मात्र क्षणिक पर्याय का धर्म है; इसलिये अनंत शक्तिवान अखण्ड आत्मा की दृष्टि में तो उसका अभाव ही है। ऐसे स्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्धभावरूप से परिणमित होने पर धर्मी को भान हुआ कि—अहो! विकारी कारकों की क्रिया के अनुसार

परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है। अभेद स्वभाव में एकत्वरूप से शुद्धभावरूप परिणमित होने का ही मेरा स्वभाव है। शरीर-मन-वाणी का, परजीव का या पुण्य-पाप का कर्ता होकर परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में एक समयपर्यंत की विकार की अमुक योग्यता है, उसे धर्मी जानते हैं, किंतु उसे शुद्धस्वभाव में नहीं लेते, उसे आदरणीय नहीं मानते। इसलिये शुद्धस्वभाव के आदर की दृष्टि में विकार का अभाव ही वर्तता है। यदि विकार के अभावरूप त्रिकाल निर्दोष स्वभाव की दृष्टि छोड़कर अकेले विकारभाव को ही जानने में रुके तो वहाँ एकान्त पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्व होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इन ४७ शक्तियों में सम्पूर्ण समयसार का दोहन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। यह सूक्ष्म अंतर का विषय है। संक्षेप में बहुत रहस्य भर दिया है। अंतर की गहराई में उतरकर समझे, वह उसकी गम्भीरता की महिमा समझ सकता है।

इस भगवान आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; वे सब शक्तियाँ कैसी हैं ?—(१) आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि शरीरादि पर का कार्य करे; इसलिये जो पर का कर्तृत्व मानता है, उसने आत्मा की शक्ति को नहीं पहिचाना है। (२) पर्याय में एक समयपर्यंत का जो विकार है, वह शक्ति में नहीं भरा है, इसलिये उस विकार के कर्तृत्व में ही जो रुके, उसे आत्मा की शक्ति की प्रतीति नहीं है। (३) अनंत शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी, उन सब शक्तिस्वरूप आत्मा तो एक है, इसलिये भिन्न-भिन्न शक्ति के भेद के लक्ष से भी सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति में नहीं आता। इसप्रकार पर, विकार और भेद—इन तीनों से पार एकाकार चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से ही अनंत शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा प्रतीति तथा अनुभव में आता है। और ऐसे आत्मा की प्रतीतिवाला जीव, भेद के आश्रय से होनेवाली विकारी क्रिया को या जड़ की क्रिया को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करता; इसलिये उसे अभेदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि परिणमन होते हैं, वह धर्म है और वही धर्म की क्रिया है। इसप्रकार स्वाश्रय अभेदरूप कारकों में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया की नास्ति है और अभेदरूप कारक के आश्रय से होनेवाली निर्मल क्रिया की अस्ति है। उसमें से भेद कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया का नास्तिपना इस ३९वीं शक्ति में बतलाया; और अभेदाश्रित निर्मल भाव होनेरूप क्रिया का अस्तिपना अगली शक्ति में बतलायेंगे।

जिसे रागादि व्यवहार के आश्रय की भावना है अथवा वह करते-करते निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होगी—ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; वह रागरहित आत्मस्वभाव को नहीं मानता।

सम्यक्त्वी की दृष्टि में अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन है और उसी की भावना है; साधकपने में व्यवहाररत्नत्रयादि का राग भले हो किंतु उसकी उसे भावना नहीं है। अहो! अपने चैतन्यतत्त्व को वास्तविकरूप से जानकर जीव ने उसकी भावना पूर्वकाल में कभी नहीं की है। एक क्षण भी जिसकी भावना करने से अनंत काल के जन्म-मरण छूट जायें—ऐसे चैतन्यतत्त्व की यह अपूर्व बात है। अपूर्व रुचिपूर्वक बारम्बार इसका श्रवण-मनन और भावना करने योग्य है।

देह से भिन्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा त्रिकाल स्थायी होने पर भी, प्रतिक्षण पलटनेरूप क्रिया भी उसमें होती है। यदि ऐसी क्रिया न हो तो वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। कहा है कि:—

'करता परिणामी दरब, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया परजय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।' *(—नाटक-समयसार)*

परिणमित होनेवाला द्रव्य, वह कर्ता है; जो परिणाम होता है, वह उसका कर्म है और एक पर्याय से दूसरी पर्याय में परिवर्तित होनेरूप किया है। यह तीनों वस्तुरूप से एक है; अर्थात् कर्ता एक वस्तु और उसका कर्म दूसरी वस्तु में—इसप्रकार भिन्न-भिन्न वस्तु में कर्ताकर्मपना नहीं होता। यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कर्ता होकर शरीरादि के कार्य को करे—ऐसा तो नहीं है और आत्मा कर्ता होकर रागादि को करे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा कर्ता होकर अपने निर्मल परिणाम को करे, वही उसका स्वभाव है।

आत्मा परिवर्तित होकर अपनी ज्ञानादि पर्यायोंरूप होता है, किंतु वह बदलकर कभी जड़ शरीररूप नहीं होता, इसलिये आत्मा, शरीर के कार्यों का कर्ता नहीं है। शरीर की क्रियारूप से तो जड़ परमाणु बदलते हैं। जो वस्तु जिस कार्यरूप परिणमित हो, उसी को उसका कर्ता कहा जाता है। आत्मा कहीं शरीर के कार्यरूप परिणमित नहीं होता; और वास्तव में राग में अभेद होकर भी परिणमित नहीं होता; आत्मा तो अपने निर्मल ज्ञानदर्शनादिपर्यायरूपी कार्य में अभेद होकर परिणमित होता है, इसलिये उसी का वह कर्ता है और वही उसका कर्म है। इसके बदले जो विकार में तन्मयता मानकर परिणमित हो, वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो, यह आत्मा की क्रिया का वर्णन! इसमें क्रिया का उत्थापन नहीं होता, किंतु वास्तविक धर्म की क्रिया की स्थापना होती है। हाँ! जगत जड़ की और विकार की क्रिया में धर्म मान रहा है, उस बात की उत्थापना होती है और शुद्धभावरूप धर्म की क्रिया की सम्यक्रूप से स्थापना होती है। जितने तीर्थंकर-संत-मुनि-धर्मात्मा हुए हैं और होंगे, उन सबने इसी क्रिया से

धर्म किया है और कहा है। भगवान ने और संतों ने तीन प्रकार की क्रिया स्थापित की है—

(१) शरीरादि की क्रिया को **जड़ की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

(२) राग-द्वेष-मोहरूप विकार को **अधर्म की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

(३) आत्मा के सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव को **धर्म की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

इसके अतिरिक्त शरीरादि जड़ की क्रिया से या पुण्यादि की विकारी क्रिया से धर्म हो—इस बात की भगवान ने स्थापना नहीं, किंतु उत्थापना की है।

जिसप्रकार कुलीन पिता अपने पुत्र को सीख देता है, उसीप्रकार इस आत्मा के धर्मपिता सर्वज्ञ भगवान और संत सीख देते हैं कि—हे वत्स! हे भाई! शरीर की क्रिया में या राग में धर्म मानना तो बाह्य वृत्ति है, उस बाह्य वृत्ति में तेरी शोभा नहीं है; इसलिये तू उस बाह्यवृत्ति को छोड़। बाह्य भावों से चिदानन्दस्वभाव को लाभ मानना और उनमें रमण करना तो कुचाल है, उसमें तेरा कुल-तेरा चैतन्यस्वरूप लज्जित होता है, तेरे चैतन्यस्वभाव की कुलीनता में वह शोभा नहीं देता; इसलिये तू उसे छोड़ दे। तू हमारे कुल का है; इसलिये हमारी भाँति सर्वज्ञ-वीतराग होने का तेरा स्वभाव है; तुझमें सर्वज्ञ-वीतराग होने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसे तू सँभाल! देखो, यह सर्वज्ञ पिता की सीख! सर्वज्ञ प्रभु की सीख सर्वज्ञ-वीतराग होने की ही है। जो स्वयं वीतराग हुए, वे राग रखने को सीख क्यों देंगे? जो जीव, राग को रखने योग्य मानता है, उसने सर्वज्ञ प्रभु की सीख नहीं मानी है, इसलिये वह सर्वज्ञदेव की आज्ञा से बाहर है, मिथ्यादृष्टि है।

—यहाँ ३९ वीं भावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

★

जैनशासन के चार स्तंभ

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'रत्नचतुष्टय'—समयसार, नियमसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय, इन चार शास्त्रों की महिमा के सम्बन्ध में गुरुदेव भावपूर्वक कहते हैं कि अहा! यह चार शास्त्र तो जैनशासन के चार स्तम्भ हैं... चारों आराधनाएँ इन चार शास्त्रों में भरी हैं... शासन के महाभाग्य हैं कि ऐसी वाणी अखण्ड बनी रही। जब-जब जो-जो जीव शुद्ध रत्नत्रय को प्राप्त हुए या होंगे, तब-तब वे सर्व जीव अन्तर्मुखस्वभाव का अवलम्बन करके ही प्राप्त हुए हैं और होंगे; अन्य मार्ग नहीं है। ऐसे अन्तर्मुख रत्नत्रयमार्ग को प्रकाशित करने में यह चार शास्त्र अजोड़ रत्न हैं। (-प्रवचन से)

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपादस्वामी रचित 'समाधिशतक'
पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म-भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[ज्येष्ठ कृष्णा १४, वीर सं० २४८२, ''समाधि शतक'' गा० ८-९-१०]

यह आत्मा, देह से भिन्न ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। कर्म, शरीर और विकार—इन तीनों की उपाधि से रहित अपना सहज ज्ञानानन्दस्वभाव है—उसे ज्ञानी स्वसंवेदन से जानता है। जिसे आत्मा की मुक्ति करना हो, उसे स्वसंवेदन से ऐसा आत्मा जानने योग्य है। ज्ञानी निरन्तर अपने आत्मा को ऐसा ही अनुभव करता है। अज्ञानी तो आत्मा को देहवाला और रागवाला ही मानता है, वह संसार का कारण है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा तो मैं हूँ और शरीर-कर्मादि तो जड़स्वरूप है, वह मैं नहीं हूँ। राग भी उपाधिरूप भाव है, वह मेरे ज्ञान-दर्शनस्वरूप से भिन्न है—ऐसे भेदज्ञान के बिना धर्म नहीं होता है।

प्रश्न : यह शरीरादि सब दिखाई देते हैं न ?

उत्तर : शरीर दिखाई देता है, किंतु वह जड़ है - ऐसा दिखाई देता है। आत्मा कहीं जड़ नहीं है। शरीर को जाननेवाला शरीर से पृथक् है, वह ज्ञाता स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जो जानता है, उसे बाह्य विषयों में गृद्धिता नहीं होती है; पुण्य के ठाठ में सुखबुद्धि नहीं होती, तथा प्रतिकूलता हो, उसे दुःख का कारण नहीं मानता है। संयोग से पृथक् मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। अल्प हर्ष-शोक होते हैं, किंतु किसी संयोग को अपना मानकर हर्ष-शोक नहीं करता। अज्ञानी जीव चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर इस जड़-शरीर को ही अपना मानता है। यह शरीर तो जड़-कलेवर-मुर्दा है, अज्ञानी उस मुर्दे को ही अपना स्वरूप मानकर अनादिकाल से उसे साथ लेकर घूमता है। 'यह शरीर तो जड़-मुर्दा है और मैं चिदानन्दस्वरूप जीवता जीव हूँ'—ऐसा भान करके, जड़-मुर्दे की मूर्च्छा नहीं छोड़ता। उसे शरीर

प्यारा लगता है किंतु चैतन्य भगवान प्यारा नहीं लगता। ज्ञानी को तो अपना चैतन्य भगवान ही प्यारा है, इसके अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों को अपने से भिन्न जानते हैं, उनमें कहीं मूर्च्छा नहीं करते।

देखो, श्री रामचन्द्रजी धर्मात्मा थे। चरमशरीरी, उसी भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले थे। अंतर में भान था कि इन लक्ष्मण आदि से मेरा आत्मा भिन्न है; किंतु राग था, इसलिये लक्ष्मण के मृत शरीर को छह महीने तक साथ लेकर घूमते-फिरे। उनके दोनों पुत्र (लव और अंकुश) पिता के चरण छूकर दीक्षा लेने चले जाते हैं, किंतु रामचन्द्रजी को लक्ष्मणजी के प्रति इतनी मोहासक्ति है कि वे कुछ बोलते भी नहीं! लक्ष्मण के मृत शरीर को खिलाने-पिलाने-नहलाने की चेष्टा करते हैं। वहाँ बाह्यदृष्टि जीवों को तो ऐसी ही शंका होगी कि क्या यह ज्ञानी हैं!! किंतु उन्हें ज्ञानी की दृष्टि की खबर नहीं है। कंधे पर लक्ष्मण का मृत शरीर रखा है, उस समय भी दृष्टि तो चिदानन्दस्वरूप पर ही है; हम तो चिदानन्दस्वरूप आत्मा हैं; यह शरीर भी हम नहीं हैं तो फिर दूसरे की क्या बात!! और यह राग भी हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है; हम तो अनंत ज्ञान-आनन्द की शक्तिस्वरूप ही हैं;—ऐसा अंतर्भान ज्ञानी को निरन्तर वर्तता है।

देखो, जब रावण ने सीताजी का हरण कर लिया, उस समय सीताजी के विरह में रामचन्द्रजी वृक्षों और पर्वतों से पूछते हैं कि अरे वृक्ष! तुमने कहीं मेरी सीता को देखा!! अरे, धर्मात्मा, पतिव्रता सीता! उसका क्या हुआ होगा! अरे पर्वत! तुमने कहीं मेरी जानकी देखी है!!—ऐसा पहाड़ों से पूछते हैं; लेकिन पहाड़ क्यों बोलने लगे?—तथापि उस समय भी उन्हें अंतर में देह से और शोक से पार चिदानन्दस्वरूप का भान वर्तता है। अज्ञानी तो अपने शरीर को आत्मा मानते हैं और दूसरों में भी शरीर को ही आत्मारूप से देखते हैं, किंतु शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को वे नहीं जानते। आत्मा तो सदैव ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही है—ऐसा अपने अंतरवेदन से ही ज्ञात होता है। आत्मा स्वयं अनंत ज्ञान-आनन्दस्वरूप परिणमित होने पर फिर अचलरूप से स्थिर रहता है, उसमें से कभी च्युत नहीं होता। इसलिये ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा को जाननेयोग्य है ॥८-९॥

मूढ़ बहिरात्मा, अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा को नहीं जानता और इन्द्रियज्ञान से मात्र शरीर को ही जानता है तथा उसी को आत्मा मानता है। यह जो शरीर है, वही मैं हूँ; शरीर की बोलने-चालने की चेष्टाएँ, मेरे आत्मा की चेष्टा है—ऐसा अज्ञानी मानता है; और दूसरे में भी उसके शरीर को ही आत्मा मानता है तथा उस आत्मा से अधिष्ठित ऐसे अचेतन शरीर की चेष्टाओं को आत्मा की ही

चेष्टा मानता है; किंतु देह तो चेतनरहित है और आत्मा चेतनसहित है—उसे अज्ञानी नहीं जानता। यह बात अब दसवीं गाथा में कहते हैं—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

अतीन्द्रियज्ञान द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को तो जाना नहीं है और इन्द्रियज्ञान द्वारा मात्र अचेतन शरीर को ही जाना, वहाँ अज्ञानी को 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसी देहबुद्धि हो गई है, और वे जिस प्रकार अपने में शरीर को आत्मा मानता है, उसी प्रकार दूसरों के अचेतन शरीर को देखकर उसे भी वह उनका आत्मा ही मानता है। इसप्रकार मूढ़ जीव, अपने में और पर में अचेतन शरीर को ही आत्मा मानता है; देह से भिन्न आत्मा को वह नहीं देखता।

जो देह को ही आत्मा मानकर मूर्च्छित हो गया है, उसे असमाधि है। यहाँ समाधि का उपाय बतलाते हैं। देहादि से भिन्न मेरा आत्मा, ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही त्रिकाल है—ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना तथा उसमें एकाग्रता करना, सो समाधि है। ज्ञानी तो जानता है कि मैं चैतन्यस्वरूप अरूपी हूँ और समस्त आत्मा भी ऐसे ही चैतन्यस्वरूप अरूपी हैं। यह शरीर दिखाई देता है, वह तो रूपी, जड़-अचेतन है, वह मैं नहीं हूँ; और जो दूसरे शरीर दिखाई देते हैं, वे भी आत्मा नहीं हैं, दूसरे आत्मा उन शरीरों से पृथक् हैं। अज्ञानी तो अपने आत्मा को भी शरीररूप ही देखता है, शरीर ही मैं हूँ—ऐसा मानता है तथा दूसरे आत्माओं को भी उसी प्रकार शरीररूप ही देखता है।

'शरीर, जड़ है और आत्मा चेतन है'—ऐसा कहे, किन्तु ऐसा माने कि 'शरीर की क्रिया आत्मा करता है, शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ-हानि होती है', तो वह भी शरीर को आत्मा ही मानता है; शरीर से भिन्न आत्मा को सचमुच वह नहीं मानता और उसे समाधि नहीं होती। 'शरीर ही मैं हूँ'—इसप्रकार जिसने शरीर को ही आत्मा माना है, उसे शरीर छूटते समय समाधि कैसे रहेगी? ज्ञानी तो अपने आत्मा को देह से भिन्न ही जानते हैं; उन्हें भान है कि चैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ; इसलिये देह छूटने के अवसर पर भी उन्हें चैतन्य के लक्ष से समाधि ही रहती है। इसलिये भेदज्ञान करके अंतर में स्वसंवेदन से अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा को जानना ही समाधि का उपाय है ॥१०॥

जिसने चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जाना, उसने शरीर को ही आत्मा माना है; उसकी दृष्टि अंतर में चैतन्य पर नहीं आई किंतु बाह्य में गई; इसलिये पर में दूसरे के आत्मा को भी शरीर से

पृथक् न जानकर शरीररूप ही मानता है तथा बाह्य में स्त्री-पुत्र-धनादि को भी अपने हितरूप जानकर भ्रम से वर्तता है—ऐसा अब कहते हैं:—

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अपने में तथा पर में, देह को ही जो आत्मा मानता है और देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को तो नहीं जानता, उस मूढ़ जीव की विपरीतदृष्टि बाह्य में बढ़ती है, इसलिये विभ्रम से वह ऐसा मानता है कि यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र इत्यादि।

अज्ञानी मूढ़ जीव, आत्मा का अनजान अपने और पर के शरीर को ही आत्मा मानकर भ्रमणा से वर्तता है; इसलिये दूसरों को भी वह शरीर के आधार से ही पहिचानता है। सर्वज्ञ भगवान को, मुनियों को, संतों को—सभी को उसी प्रकार बाह्यदृष्टि से शरीररूप ही देखता है, किंतु शरीर से भिन्न अंतर की चैतन्यपरिणतिवाला आत्मा है, उसे नहीं जानता। अज्ञानी, शरीर को ही देखता है किंतु आत्मा क्या है, आत्मा के ज्ञानादिभाव क्या हैं, उन्हें वह नहीं जानता। जड़कर्म के कारण आत्मा को विकार होता है—ऐसा माननेवाला भी वास्तव में आत्मा को जड़ से भिन्न नहीं जानता। अपने आत्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप से जाने बिना दूसरे के आत्मा की भी यथार्थ पहिचान नहीं होती।

भेदज्ञान-प्रश्नोत्तर

[श्री समयसार कर्ताकर्म-अधिकार के प्रवचनों से]

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥७२॥

आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञान से ही बंध का निरोध होता है।

****

(५८) प्रश्न—आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञान से ही बंधन किस प्रकार रुकता है ?

उत्तर—मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ और यह क्रोधादि आस्रव मुझसे विपरीत स्वभाववाले अशुचिरूप तथा दु:ख के कारण हैं—ऐसा जानकर, जब जीव अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढलता है, तब उसकी क्रोधादि आस्रवों से निवृत्ति होती है और इसलिये उसे बंधन नहीं होता। इसप्रकार स्वभावोन्मुख ज्ञानमात्र से ही बंधन रुक जाता है।

(५९) प्रश्न—पवित्र कौन है ?

उत्तर—यह भगवान आत्मा सदैव अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप से अनुभव में आता है; इसलिये अत्यन्त पवित्र है।

(६०) प्रश्न—अपवित्र कौन है ?

उत्तर—जिसप्रकार पानी में शेवाल का मैल है, उसीप्रकार इस चैतन्यस्वरूप आत्मा में क्रोधादि आस्रव मैलरूप से अनुभव में आते हैं, इसलिये अशुचि हैं—अपवित्र हैं।

(६१) प्रश्न—आत्मा तथा क्रोधादि की भिन्नता किसप्रकार है ?

उत्तर—आत्मा तो अत्यन्त पवित्र है और क्रोधादि मलिन-अपवित्र हैं, इसलिये उनके पृथक्त्व हैं।

(६२) प्रश्न—पुनश्च, अन्य किसप्रकार से उनमें भिन्नता है ?

उत्तर—यह भगवान आत्मा तो स्वयं ही विज्ञानघन स्वभाववाला होने से स्व-पर का

चेतक है; क्रोधादि आस्रवों को जड़स्वभावपना होने से वे स्व-पर को नहीं जानते; वे तो अन्य के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं;—इसप्रकार आत्मा और क्रोधादि में भिन्नता है।

(६३) प्रश्न—क्रोधादि अन्य के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं—वहाँ 'अन्य' अर्थात् कौन ?

उत्तर—अन्य अर्थात् चैतन्यस्वभाव; क्रोधादि आस्रव स्वयं अपने को नहीं जानते, किन्तु उनसे अन्य (-पृथक्) ऐसा जो चैतन्यभाव है, वही आस्रवों को जानता है। क्रोधादि स्वयं अपने को नहीं जानते; इसलिये वे जड़स्वभावी हैं और भगवान आत्मा तो स्व-पर का ज्ञाता होने से चैतन्यस्वभावी हैं—इसप्रकार आत्मा की आस्रवों से भिन्नता है। क्रोध स्वयं अपने को नहीं जानता कि 'मैं क्रोध हूँ;' क्रोध से पृथक् ऐसा ज्ञान ही जानता है कि 'यह क्रोध है।' इसप्रकार क्रोध स्वयं ज्ञातास्वभाव नहीं है, वह तो ज्ञात होने योग्य है और आत्मा स्वयं ज्ञातास्वभावी है;—इसप्रकार भिन्न-भिन्न लक्षण द्वारा आत्मा तथा क्रोधादि को भिन्न जानना।

(६४) प्रश्न—आत्मा और क्रोधादि की तीसरे किसप्रकार से भिन्नता है ?

उत्तर—क्रोधादि आस्रव तो आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने से दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो सदैव निराकुल स्वभाववाला है, वह दुःख का कारण नहीं है—इसप्रकार भी आत्मा और आस्रवों में भिन्नता है। आत्मा तो ज्ञानमूर्ति आनन्द का सागर है, आत्मा के सन्मुख होने से तो आनन्द का ही वेदन होता है और क्रोधादि तो दुःखरूप हैं—इसप्रकार दोनों के वेदन का स्वाद अत्यन्त भिन्न है, इसलिये उन दोनों में भिन्नता है।

(६५) प्रश्न—इसप्रकार आत्मा और आस्रवों की भिन्नता जानने से क्या होता है ?

उत्तर—भगवान आतमा तो पवित्र है; चेतकस्वभावी है और आनन्दस्वरूप है; तथा आस्रव तो अपवित्र हैं, अन्य के द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं तथा दुःखरूप हैं—इसप्रकार जब यह आत्मा दोनों की भिन्नता को जानता है, तब उसी समय अपने पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ढल जाता है और क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।

(६६) प्रश्न—क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होने का क्या अर्थ ?

उत्तर—जहाँ आत्मा और क्रोधादि को भिन्न जाना, वहाँ उस ज्ञानी को अपने शुद्ध आत्मा में ही एकत्वबुद्धि होती है और क्रोधादि परभावों में एकत्वबुद्धि नहीं होती, उसका नाम क्रोधादि से निवृत्त है।

(६७) प्रश्न—आत्मा और आस्रवों की भिन्नता को जाने किन्तु क्रोधादि से निवृत्ति न करे तो ?

उत्तर—तो वहाँ आत्मा और आस्रवों का पारमार्थिक भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। जो ज्ञान, आत्मा और क्रोधादि को यथार्थरूप से पृथक् जान ले, वह ज्ञान, अन्तर्स्वभावोन्मुख होकर क्रोधादि से निवृत्त हुए बिना नहीं रहता। यदि क्रोधादि में ही एकत्वरूप से वर्ते तो उस ज्ञान ने क्रोधादि से भिन्नता जानी ही नहीं है अर्थात् भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। यथार्थ भेदज्ञान होने पर ज्ञान अवश्य ही आत्मस्वभावोन्मुख हो जाता है और क्रोधादि से पृथक् हो जाता है।—इसप्रकार 'भेदज्ञान' का क्रोधादि आस्रवों से निवृत्ति के साथ अविनाभावीपना है।

(६८) प्रश्न—क्रोधादि आस्रवों से निवृत्ति के साथ ज्ञान का अविनाभावीपना किसप्रकार है?

उत्तर—आत्मा के ज्ञानस्वभाव को क्रोधादि से भिन्न जानकर, ज्ञान ने अंतर स्वभावोन्मुख होकर जहाँ उसकी रुचि की, वहाँ क्रोधादि की रुचि छूट गई। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की रुचि में प्रवृत्ति होते ही वह ज्ञान, क्रोधादि की रुचि से निवृत्त हो गया; इसलिये आत्मोन्मुख होकर उसमें जिसने एकता की है, वह ज्ञान, आस्रवों से अवश्य विमुख हो गया है। इसप्रकार ज्ञान को आस्रवों से निवृत्ति के साथ अविनाभावीपना है। ज्ञान अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति करे और क्रोधादि की रुचि न टले- ऐसा नहीं होता। यदि क्रोधादि की रुचि न छूटी हो तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है; उसने आस्रवों से अपनी भिन्नता को नहीं जाना, इसलिये वह आस्रवों में ही अभेदरूप से वर्तता है। जो ज्ञान, क्रोधादि से अपनी भिन्नता को जान ले, वह ज्ञान, क्रोधादि की रुचि छोड़कर अन्तर स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहता।

(६९) प्रश्न—आत्मा और आस्रवों की भिन्नता को जाननेवाली ज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो?

उत्तर—तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। आत्मा और आस्रवों की भिन्नता को जाननेवाला ज्ञान, आस्रवों से विमुख न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। आस्रवों के साथ एकरूप वर्तनेवाला ज्ञान सचमुच ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है; वह आत्मा और आस्रवों की भिन्नता को नहीं जानता और जो भेदज्ञान है, वह तो नियम से आस्रवों से भिन्न ही वर्तता है; इसलिये भेदज्ञान द्वारा ही बंध का निरोध होता है।

(७०) प्रश्न—ऐसा सिद्ध होने से क्या हुआ?

उत्तर—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा ही बंध का निरोध सिद्ध होने से 'अज्ञान का अंश ऐसे क्रियानय' का खण्डन हुआ।

(७१) **प्रश्न**—'अज्ञान का अंश ऐसा क्रियानय' का क्या अर्थ ?

उत्तर—भेदज्ञान के बिना, अज्ञानपूर्वक के अकेले मंदरागरूप क्रिया से बंधन का निरोध होना मानना, वह 'अज्ञान का अंश ऐसा क्रियानय' है; यहाँ भेदज्ञान द्वारा ही बंध का निरोध सिद्ध होने से उस क्रियानय का खण्डन हुआ।

(७२) **प्रश्न**—यहाँ दूसरे किस नय का खण्डन हुआ ?

उत्तर—यहाँ एकान्त 'ज्ञाननय' का भी खण्डन हो गया।

(७३) **प्रश्न**—एकान्त ज्ञाननय का खण्डन किस प्रकार हुआ ?

उत्तर—आत्मा और आस्रवों को जाननेवाला जो ज्ञान है, वह भी यदि आत्मा की ओर न ढले और आस्रवों से पृथक् न हो (संयोग और राग को हितकर माने-परद्रव्यादि से भला-बुरा माने) तो वह ज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान ही है—ऐसा सिद्ध होने से 'ज्ञान का अंश' ऐसे एकान्त ज्ञाननय का भी खण्डन हुआ।

(७४) **प्रश्न**—एकान्त ज्ञाननय अर्थात् क्या ?

उत्तर—आत्मा और आस्रव भिन्न हैं—ऐसा शास्त्रों द्वारा ज्ञान तो करे, किन्तु अपने ज्ञान को आत्मस्वभाव-सन्मुख न ले जाये और आस्रवों से पृथक् न करे, मात्र ज्ञातृत्व-बंधन रुक जायेगा—ऐसा मानकर सिर्फ ज्ञातृत्व में ही रुक जाये तो वह 'एकान्त ज्ञाननय' है। आत्मा और आस्रवों की भिन्नता को जानने का तात्पर्य तो यह था कि आत्मस्वभाव में अन्तर्मुख और आस्रवों से पराङ्मुख होना। उसके बदले आस्रवों में ही एकमेकरूप वर्तता रहे तो उस ज्ञान द्वारा बंधन का निरोध सिद्ध नहीं होता; इसप्रकार उस एकान्त ज्ञाननय का खण्डन हुआ, अर्थात् वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है—ऐसा निश्चित हुआ।

(७५) **प्रश्न**—आत्मा और आस्रवों को भिन्न किस प्रकार जानें ?

उत्तर—यह भगवान आत्मा तो पवित्र है, ज्ञाता है और सुखस्वरूप है; तथा क्रोधादि आस्रव अपवित्र हैं, जड़ हैं और दुःख के कारण हैं;—इसप्रकार लक्षणभेद द्वारा आत्मा और आस्रवों को पृथक् जानना चाहिये।

(७६) **प्रश्न**—आत्मा और आस्रवों को भिन्न जानकर क्या करें ?

उत्तर—मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा जानकर उसमें तो ज्ञान की एकता करना चाहिये और क्रोधादि मुझसे भिन्न हैं—ऐसा जानकर उनके साथ की एकता को छोड़ना चाहिये

अर्थात् ज्ञानस्वभाव में प्रवर्तन आस्रवों से निवर्तन करना चाहिये।

(ज्ञाता स्वभाव की अरुचि को असल में क्रोध समझना चाहिये।)

(७७) प्रश्न—भेदज्ञानी जीव, आस्रवों से निवर्तित होता है–यह नियम कहा। सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्वादि आस्रवों से तो निवृत्ति है, किन्तु उसे भी अभी कुछ कर्म-प्रकृतियों का आस्रव तो होता है;—इसप्रकार आस्रव होने पर भी उसे भेदज्ञान किस प्रकार है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानी को यद्यपि अपनी अस्थिरता के रागादि भाव के कारण अमुक आस्रव होता है, तथापि उसका ज्ञान उन आस्रवों में एकत्वबुद्धि से नहीं वर्तता किन्तु भिन्नतारूप ही वर्तता है। आस्रवों में एकरूप नहीं वर्तता; इसलिये उसका ज्ञान, आस्रवों से निवर्तित ही है और इसलिये उसे भेदज्ञान है ही।

(७८) प्रश्न—भेदज्ञान किस प्रकार उदय को प्राप्त होता है ?

उत्तर—जो भेदज्ञान है, वह परपरिणति को छोड़ता और चैतन्य के आनन्द में केलि करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। अहो! ऐसे भेदज्ञान में विकार के साथ एकता या कर्म का बंधन क्यों होगा ?–नहीं हो सकता। जयवंत वर्ते ऐसा भेदज्ञान!

(७९) प्रश्न—ज्ञानी को राग होता है ?

उत्तर—हाँ, अस्थिरता की भूमिका में अपनी कमजोरी अनुसार ज्ञानी को भी राग होता है।

(८०) प्रश्न—राग होने पर भी ज्ञान होता है ?

उत्तर—हाँ; भेदज्ञानी को राग होने पर भी ज्ञान अवश्य होता है।

(८१) प्रश्न—राग, ज्ञानी को भी होता है और अज्ञानी के भी होता है—तो उसमें अन्तर क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी को भी राग होता है और ज्ञानी को भी होता है, परन्तु अज्ञानी तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव को जानता ही नहीं है, राग को ही आत्मा मानता है, अर्थात् शुभराग को भला मानता है; इसलिये उसका सम्पूर्ण बल राग की ओर ही ढला है, इसलिये उसका राग अनन्तानुबंधी है। और ज्ञानी को सर्व प्रकार के राग से भिन्न अपना ज्ञानस्वभाव का भान है, उसे राग में एकता किंचित् नहीं होती; उसका बल ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये उसका राग अति अल्प है। और जो अल्प राग है, उसे भी वह अपने स्वभाव से पृथक् रूप जानता है। इसप्रकार ज्ञानी को

राग से भिन्नता और अज्ञानी की अभिन्नता है। ज्ञानी को ज्ञान में एकता के कारण राग की उत्पत्ति ही नहीं होती।

(८२) प्रश्न—सम्यक्त्वी चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य का तथा छियानवे हजार रानियों का उपभोग करे-वह ज्ञानी; और मिथ्यादृष्टि जीव त्यागी द्रव्यलिंगी साधु होकर ब्रह्मचर्य का पालन करे, तथापि वह अज्ञानी; इसका क्या कारण ?

उत्तर—भाई, ज्ञानी-अज्ञानीपने का माप बाह्य संयोगों पर से नहीं होता, मात्र राग पर से भी उसका माप नहीं होता, किन्तु उस समय उसकी बुद्धि कहाँ वर्तती है ?—राग में एकतारूप से वर्तती है या आत्मस्वभाव में ?—उसी पर से ज्ञानी-अज्ञानीपने का माप होता है। मिथ्यादृष्टि जीव मंदराग करके ब्रह्मचर्यादि का पालन करता है, तथापि "इस राग से मुझे लाभ होगा"—ऐसी राग के साथ की एकत्वबुद्धि उसके अंतर की गहराई में पड़ी है; इसलिये वह अज्ञानी ही है; जिसे राग के साथ एकताबुद्धि है—राग में सुखबुद्धि है, उसने राग के फल को छोड़ा है—ऐसा भी वास्तव में नहीं कहा जाता; इसलिये जिसे राग की रुचि है, उसे राग के फलरूप भोग की रुचि भी पड़ी ही है—फिर भले ही वह ब्रह्मचर्यादि का पालन करता हो।

और सम्यक्त्वी धर्मात्मा को भोग आदि अशुभराग होने पर भी उस समय भी राग से भिन्न चिदानन्दस्वभाव का ज्ञान वर्तता है, विषयभोग में स्वप्न में भी सुख नहीं मानते और राग के साथ एकता नहीं करते; ज्ञान के साथ ही एकतारूप से परिणमित होते हैं, इसलिये वे ज्ञानी ही हैं। राग की और विषयों की रुचि उन्हें छूट गई है। अरे! ज्ञानी-अज्ञानी की पहिचान भी जगत के जीवों को दुर्लभ है।

संयोग का मिलना, वह तो पुण्य का ठाठ है। तीर्थंकर भगवन्तों को राग न होने पर भी पुण्य के फल से समवशरण के अचिन्त्य वैभव का ठाठ रच जाता है। संयोग के ठाठ से राग का माप नहीं है। कोई जीव एक स्त्री से विवाह करे, इसलिये उसे अल्प राग होता है और सम्यक्त्वी चक्रवर्ती राजा को ९६००० रानियाँ होने से अधिक राग होता है—ऐसा कोई नियम नहीं है। नहीं तो जिनके शरीर में अधिक परमाणु हों, ऐसे मोटे मनुष्यों को अधिक राग और जिनका शरीर पतला-छोटा कम परमाणु वाला हो, उसे अल्प राग—ऐसा सिद्ध होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। इसीप्रकार लक्ष्मी आदि में भी समझना।

इसप्रकार संयोग के ऊपर से राग का माप नहीं है—यह एक सिद्धान्त हुआ। उससे सूक्ष्म

दूसरा सिद्धान्त यह है कि राग पर से ज्ञानी-अज्ञानी का माप नहीं है। जिसे राग और ज्ञान का भेदज्ञान वर्तता है, वह ज्ञानी ही है तथा जिसे राग और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं है किन्तु एकताबुद्धि है, वह अज्ञानी ही है। इसप्रकार रुचि का झुकाव किस ओर है, उसी पर से ज्ञानी-अज्ञानी का माप होता है। अपने वेदन में जिसे ज्ञान और राग की भिन्नता भासित नहीं होती, वह दूसरे जीवों का यथार्थ निर्णय नहीं कर सकेगा; क्योंकि राग और ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्वरूप की उसे खबर नहीं है; इसलिये सामनेवाला जीव, राग और ज्ञान का एकरूप अनुभव करता है या भिन्नरूप—उसका निर्णय वह किस प्रकार कर सकेगा? इसप्रकार अपने अंतर में राग और ज्ञान का भेदज्ञान करे, तभी मार्ग का प्रारम्भ होता है और तभी ज्ञानी की सच्ची पहिचान होती है।

(८३) प्रश्न—भेदज्ञानी धर्मात्म अपने आत्मा को कैसा जानता है?

उत्तर—मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ और अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव से परिपूर्ण हूँ—ऐसा धर्मी अपने आत्मा को जानता है।

(८४) प्रश्न—इसप्रकार आत्मा को जानकर वह क्या करता है?

उत्तर—इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभाव का क्रोधादि से भिन्न अनुभव करता हुआ ज्ञानी-धर्मात्मा, क्रोधादि की ग्रहण बुद्धि छोड़ देता है; इसलिये आस्रवों से विमुख होकर ज्ञानस्वभाव में एकता करता है; ज्ञान समुद्र में लीन होकर आस्रवों को छोड़ देता है।

(८५) प्रश्न—आत्मा ने आस्रवों को छोड़ दिया, उसका दृष्टान्त क्या है?

उत्तर—जिसप्रकार समुद्र भँवर द्वारा जहाज को पकड़ता है, उसीप्रकार धीर-गम्भीर चैतन्यसमुद्र में 'क्रोधादि सो मैं'—ऐसे मिथ्यात्वरूपी भँवर द्वारा आत्मा ने आस्रवरूपी जहाज को पकड़ रखा था, किन्तु जिसप्रकार समुद्र उपशांत होने पर भँवर शांत होकर जहाज को छोड़ देता है, उसीप्रकार चैतन्यसमुद्र भगवान आत्मा क्रोधादि से भिन्नता जानकर जहाँ स्वरूपमग्न प्रशांत हुआ, वहाँ 'क्रोधादि सो मैं'—ऐसे मिथ्या विकल्पोंरूपी भँवर शांत हो गये और आत्मा ने आस्रवरूपी जहाज को छोड़ दिया;—इसप्रकार समुद्र के दृष्टान्त की भाँति भेदज्ञान द्वारा आत्मा आस्रवों को छोड़ता है।

(८६) प्रश्न—पहले कर्म दूर होते हैं, फिर अज्ञान का नाश होकर ज्ञान होता है—यह बात ठीक है?

उत्तर—नहीं; ऐसा नहीं है।

(८७) **प्रश्न**—तो पहले ज्ञान होता है, फिर अज्ञान का नाश होता है और फिर कर्म दूर होते है—ऐसा क्रम है ?

उत्तर—नहीं; ऐसा भी नहीं है।

(८८) **प्रश्न**—तो कौन-सी रीति है ?

उत्तर—ज्ञान हो, अज्ञान का नाश हो और कर्म छूट जायें—इन तीनों का एक ही काल है। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो और मिथ्याज्ञान दूर न हो—ऐसा नहीं हो सकता; सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो और आस्रवों से पृथक् न हो—ऐसा भी नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान की उत्पत्ति, अज्ञान का नाश और आस्रवों से निवृत्ति—इन तीनों का एक ही काल है। भेदज्ञान होने के बाद ज्यों-ज्यों आत्मा, ज्ञान में स्थिर होकर विज्ञानघन होता जाता है त्यों-त्यों वह आस्रवों से छूटता जाता है; और ज्यों-ज्यों आस्रवों से छूटता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाता है और इसप्रकार भेदज्ञान करके विघानघन होना ही धर्म है।

ज्ञानीजन

सदा काल आनन्दरूप रहो।

आत्मा स्वयं आनन्द का सागर है, उसमें अन्तर्मुख होकर डुबकी लगाने से पर्याय में आनन्द की तरंगें उठती हैं। जिस प्रकार चन्द्रोदय होने पर सागर उछलता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र का उदय होने पर आनन्द का सागर उछलता है।

प्रथम ऐसा दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि मैं ही ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ; मुझमें सर्वज्ञ होने की शक्ति है। ऐसे स्वरूप का निर्णय करके फिर बारम्बार ज्ञानचेतना को उसमें एकाग्र करने से केवलज्ञान होता है और केवलज्ञान होने के पश्चात् जीव सदैव परमानन्दस्वरूप ही रहता है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ज्ञानीजन! इस ज्ञानचेतना को नचाते हुए केवलज्ञानरूप होकर सदैव आनन्दरूप रहो!

''सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।''

ज्ञानचेतना को अन्तर में एकाग्र करने से आत्मा के परमशांत रस का अनुभव होता है। ज्ञानीजन आनन्दपूर्वक अपनी ज्ञानचेतना को नचाते हुए अब से सदा काल (सादि-अनंत) प्रशम रस का पान करो! अहा! आत्मा में एकाग्र होने से परम आह्लादपूर्वक आत्मा के प्रशमरस का वेदन होता है; सम्यक्त्वी को उस स्वाद के नमूने का वेदन हो गया है; तदुपरान्त यहाँ तो अन्तर में लीन होकर पूर्ण आनन्द प्रगट करने की यह बात है। आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानीजन सदा काल आनन्दरूप रहो!—किस प्रकार?—तो कहते हैं कि अपनी ज्ञानचेतना को नचाते हुए; ज्ञायकभाव को दृष्टि में लिया, अब उस ज्ञायकभाव में स्थिर होओ रे स्थिर होओ! ज्ञायकभाव में एकाग्र होकर चैतन्य के प्रशान्तरस का पान करो! कहाँ तक?—तो कहते हैं कि अभी से लेकर सदा काल प्रशमरस का पान करो!

''सानंदं नाट्यंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतः''

आनन्दसहित ज्ञानचेतना को नचाते हुए सदा काल प्रशमरस को पीते रहो! इस प्रकार ज्ञानचेतना द्वारा प्रशमरस को पीते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो!

चैतन्य की भावना करके उसमें एकाग्र होने पर आनन्द के वेदन से जीव तृप्त-तृप्त हो जाता है;—इतना तृप्त हो जाता है कि उसमें से बाहर नहीं निकलना चाहता। उसी में लीन रहना चाहता है। आनन्द का वेदन होने से ऐसी तृप्ति होती है कि कोई तृष्णा नहीं रहती। बाह्य विषयों में अनंतकाल से वर्तता है, तथापि जीव अतृप्त ही रहा; ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके चैतन्य विषय में एकाग्र करने पर आनन्दरस के पान से आत्मा ऐसा तृप्त-तृप्त हो जाता है कि जगत के किन्हीं विषयों की तृष्णा उसे नहीं रहती। इस प्रकार स्वभाव की एकाग्रता में ही सुख-शांति और तृप्ति है; इसलिये हे जीवो! ऐसे चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता द्वारा सदाकाल आनन्दरूप रहो!

मोक्षमार्ग

हे भव्य! अपने आत्मा को ऐसे मोक्षमार्ग में लगा।

समयसार गाथा ४१०-११-१२ में आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! शुद्ध आत्मा के आश्रय से वर्तते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, इसलिये उसी में तू अपने आत्मा को युक्त कर, अन्य द्रव्यों में न लगा।

हे श्रावकों! हे श्रमणों! अणुव्रत या महाव्रत संबंधी जो शुभराग है, वह परद्रव्याश्रित है, वह आत्मा को मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिये उस शुभराग को अथवा श्रावक या श्रमण के बाह्य लिंगों को तुम मोक्ष का कारण न मानो, किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्ष का कारण जानकर उसी में आत्मा को युक्त करो।

समस्त अरहंत भगवंतों ने शुद्ध आत्मा के आश्रय द्वारा रत्नत्रय को साधकर और शरीराश्रित द्रव्यलिंग को तथा व्रतादि के शुभविकल्पों को छोड़कर मोक्ष की साधना की है। इसप्रकार समस्त अरहंत देवों ने भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है; इसलिये वही एक मोक्षमार्ग है—ऐसा निर्णय करके हे जीव! उसी में अपने आत्मा को युक्त कर।

''दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिण बिंति''

समस्त अरहंत भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है और उसी को मोक्षमार्ग कहा है; तो हे जीव! तू अन्य प्रकार से मोक्षमार्ग कहाँ से लाया? अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही अपने आत्मा को लगा—ऐसी सूत्र की अनुमति है, ऐसा संतों का आदेश है और ऐसा ही भगवान का मार्ग है।

हे भव्य! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को युक्त कर:—

''दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे''

हे मुमुक्षुओं! यही मोक्षमार्ग तुम्हारे सेवन योग्य है। क्योंकि—

''दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।''

आत्मा का तत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है, और वह रत्नत्रयस्वरूप ही मोक्षमार्ग है; इसलिये मोक्षार्थी मुमुक्षुओं को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग ही एक सदा सेवन करने योग्य है।

ऐसा स्पष्ट मोक्षमार्ग बतलाकर आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य! ऐसे मोक्षमार्ग में तू अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार न कर।

आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम ही नियम से मोक्षमार्ग है; हे भव्य जीवो! निरन्तर उसी का सेवन करो।

सुवर्णपुरी समाचार

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी सुख शान्ति में हैं। पंचास्तिकाय शास्त्र जी का व्याख्यान पूर्ण हुआ है और प्रवचनसार सबेरे चरणानुयोग चूलिका और दोपहर में ज्ञेय अधिकार चलते हैं, पंचास्तिकाय की अंतिम २० गाथा (१५४ से १७३) में वीतरागी मोक्षमार्ग का निश्चय-व्यवहार की यथार्थ संधि पूर्वक अद्‌भुत विवेचन है, उस विषय में भी बहुत उत्तम प्रकार स्पष्टीकरण सहित प्रवचन हुए थे।

दीपावली-उत्सव—

भगवान श्री महावीर निर्वाण उत्सव के लिये जिनमंदिर में पावापुरी सिद्धि धाम के मोडलरूप में अच्छे दृश्य बनाकर बड़ी भक्ति से पूजन किया गया था। बाद पूज्य गुरुदेव ने अद्‌भुत भाव से भरपूर प्रवचन किया था। उसमें भगवान महावीर किस प्रकार मोक्ष पाये, वह बताया था।

नूतन वर्ष में कांग्रेस के माननीय प्रमुख श्री ढेबरभाई—

कार्तिक सुद १ के दिन खास गुरुदेव के दर्शनार्थ आये थे, दोपहर का धूप का समय था, स्वाध्याय मंदिर के समीप वृक्ष के नीचे गुरुदेव विराजमान थे, वहाँ आकर नमस्कार करके बहुत विनय प्रेम पूर्वक ४५ मिनट तक बैठकर सच्चा सुख, सुख के उपाय तथा शरीर और आत्मतत्त्व की

भिन्नता, अकर्तृत्व संबंध में चर्चा सुनकर आभार माना, बाद नया भव्य जिनमंदिर, समवसरण, मानस्तंभ आदि का अवलोकन किया।

श्री ढेबरभाई पू० गुरुदेव के प्रति बहुत समय से बड़ा आदर भाव रखते ही हैं, और अनेकबार गुरुदेव का समागम का लाभ लेते हैं। सं० २०१३ में गुरुदेव जब दिल्ली पधारे थे, तब श्री ढेबरभाई अपनी अनेक प्रवृत्तियों में होने पर भी प्रायः हमेशा प्रवचन में आते थे, उपरांत खास समय लेकर धर्म चर्चा करने के लिये 'वीर सेवा मंदिर' (जहाँ गुरुदेव ठहरे थे) में भी आते थे और गुरुदेव के स्वागत का प्रवचन भी आपने किया था, (जो आगे दूसरे अंक में दिया जायेगा)।

अष्टाह्निका महोत्सवः—

इस साल विशेष हर्ष उल्लासपूर्वक मनाया गया था, नया और बड़ा आकर्षक मंडप सजाकर मांडला मांडकर पंचमेरु—नंदीश्वर आदि शाश्वत जिनालय और जिन प्रतिमाजी का पूजन और श्री सीमंधर आदि बीस विहरमान विदेही नाथ तीर्थंकर भगवन्तों का पूजन भी बड़े भाव से सब समूह मिलकर किया गया था—श्री नेमिनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा के वार्षिक शुभदिन सोनगढ़ में नवनिर्मित भव्य जिनालय में ऊपरी भाग में श्री नेमिनाथ प्रभु की पुनः प्रतिष्ठा का वार्षिक उत्सव कार्तिक सुदी १२ के दिन बड़ी भक्ति पूजनादि पूर्वक मनाया गया था।

तत्त्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१- सम्यग्दर्शन-(दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैनधर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई हैं। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६, मूल्य १.६३।

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४- जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा निःशंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तुस्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४ - द्रव्य पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६. वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो—इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४००, मूल्य २-५० नये पैसे।५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

छप रहा है!! शीघ्र ही छप रहा है!!!

सस्ते में मिलेगा

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	छप रहा है।	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८	
तृतीय भाग	॥-)	-१०-११-१२-१३	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।